

भारतीय दर्शन में परमार्थस्वरूपानुभूति



डॉ० वन्दना द्विवेदी
असि० प्रोफेसर, संस्कृत
विभाग, नवयुग कन्या महाविद्यालय,
लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत

शोध आलेख सार– साधक शास्त्राभ्यास एवं गुरुसपर्या के राहित्य से बौद्ध एवं पौरुष ज्ञानलाभ नहीं कर सकता, क्या उसको यथार्थ आत्मस्वरूप की अनुभूति कभी नहीं हो सकती? जबकि जीव शिव का ही रूप माना जाता है, तो एसी दशा में सीमित रूप से ही भले क्यों न हो, आत्मप्रकाश तो रहता ही होगा। जब यह रहता है तो सीमित रूप में ही क्यों न हो, अज्ञान(मल) का नाश करता ही होगा? इस प्रकार भारतीय दर्शन का प्रतिपाद्य ही आत्मावलोकन एवं आत्मानुभूति है। सभी शास्त्र अपने ढंग से इसी के प्रतिपादन में सन्नद्ध हैं।

मुख्य शब्द– भारतीय दर्शन, परमार्थस्वरूपानुभूति, शास्त्राभ्यास, गुरुसपर्या।

मानव जीवन अमूल्य एवं सभी जीवों से उत्कृष्ट माना जाता है। देवयोनि एवं तिर्यग् योनि भोगभूमियाँ मानी जाती हैं, जबकि मानव योनि कर्मक्षेत्र मानी जाती है। सन्तशिरोमणि तुलसीदास भी अन्य महापुरुषों की तरह कहते हैं- 'बड़े भाग मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन गावा।' इसीलिये ईशादि श्रुति कहती हैं कि मानव को निष्कामभाव से सदा शुभकर्म करते हुये दीर्घजीवन की इच्छा करनी चाहिये।¹ जीव को परमात्मा की ही प्रतिकृति (Replica of the God) माना जाता है, जैसा भगवान् श्रीकृष्णा गीता में² और आद्य गुरु शङ्कराचार्य ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में इस रहस्य की पुष्टि करते हैं, जो कठादि श्रुति के प्रतिपाद्य सिद्धान्त के अनुकूल हैं। परन्तु ब्रह्मरूप होते हुये भी जीव दुःखत्रय से क्यों प्रताड़ित हैE?³ आवगमन चक्र के भँवर में क्यों फँसा रहता है? परमात्मा परमानन्दस्वरूप है, सर्वथा परिपूर्ण है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त निर्विकार चैतन्यरूप है, फिर उसी का प्रतिरूप जीव क्यों

अज्ञानतम से कलुषित रहता है? इत्यादि अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करते हुये शास्त्र कहते हैं कि इसका मूल कारण अज्ञान है, जैसे सिंह शावक भेड़ों की संगति के स्वरूप अनभिज्ञता से कष्ट पाता है।

शैव शास्त्रों में यह अज्ञान दो प्रकार का बतलाया गया है-बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान। बुद्धि के स्तर पर होने वाले अज्ञान को बौद्ध अज्ञान तथा पुरुष के स्तर पर होने वाले अज्ञान को पौरुष अज्ञान करते हैं।⁴ वास्तव में आत्मपरमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अपरिमित, अक्षर, परिपूर्ण, शुद्ध प्रकाशरूप है, परन्तु स्वेच्छा से अपनी स्वस्वरूपगोपनात्मा माया शक्ति द्वारा अपने स्वरूप एवं शक्तियों में संकोच आभासित कर देता है। यह संकोच अथवा प्रकाश(बोध) की परिमितता ही मल कहा जाता है, जिसे जड़ता का पर्याय माना जाता है। इस मलरूपी अज्ञान(परिमित ज्ञान) को ही संसारी(बद्ध पशु) भाव का कारण माना जाता है। इस प्रकार आत्मपरमेश्वर की असीमित ज्ञान और क्रिया आदि शक्तियाँ मायावश अभिव्यक्त हुये जीवभाव में उसके अल्पज्ञ और अल्प शक्तियुक्त समझने का कारण बनती है। अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति संकुचित-ही हुई अपूर्णमन्यतारूप आणव मल, ज्ञान शक्ति क्रम से संकोच के कारण भेद(द्वैतभाव) में सर्वज्ञत्व से किञ्चिज्ज्ञत्व को प्राप्त होने से अन्तःकारण-बुद्धीन्द्रियता से सम्पन्न होकर अत्यन्त संकोच ग्रहण करने के कारण भिन्नेवेद्यप्रभारूप मायीय मल तथा क्रियाशक्ति सर्वकर्तृत्व से किञ्चित् कर्तृत्व को प्राप्त होने से कर्मेन्द्रयरूप संकोच ग्रहण से अत्यन्त परिमितता को प्राप्त हुई शुभाशुभ अनुष्ठानमय कर्म मल रूप को धारण कर लेती है। इसी प्रकार सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्व आदि शक्तियाँ संकोच ग्रहण करने में यथाक्रम कला-विद्या-राग-कला-नियतिरूप से भासित होने लगती हैं।

शिव(पति) की अवस्था की ज्ञान, क्रिया और माया शक्ति जीव(पशु) की दशा में क्रमशः सत्त्व, रजत् और तमस् गुणों में परिच्छिन्न हो जाती हैं।⁵ इस प्रकार चित्स्वरूप आत्म- परमेश्वर स्वरूप एवं निज शक्तियों में संकोच के कारण मल(अज्ञान) से ढक कर संसारी बन जाता है। ये अज्ञान(मल) बौद्ध एवं पौरुष-दोनों रूपों से बन्धन का कारण बनता है। स्वच्छन्दतन्त्र अनुसार मल(अज्ञान) से चैतन्य(आत्मा का सब कुछ जानने एवं करने का स्वातन्त्र्य) दब जाता है एवं कला(किञ्चित् करने की सामर्थ्य और विद्या(किञ्चित् जानने की सामर्थ्य) से युक्त हो जाता है, राग से रञ्जित तथा भूत, वर्तमान, भविष्य की काल कलना से ग्रस्त हो जाता है। नियति (विशेष कारण से विशेष कार्य उत्पन्न करने की क्षमता) से नियन्त्रित हो जाता है; जिससे पुरुष विशेष के दृढ़ संस्कार तथा प्रकृति की वासना व गुणत्रय(सत्त्व, रज, तम) से समन्वित होकर बुद्धि, अहंकार, मन, बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, तन्मात्र और स्थूल भूतों के आवरण से युक्त

होने से मलावृत कहलाता है। वसुगुप्त भी स्पन्दकारिका में यही भाव अभिव्यक्त करते हुये कहते हैं कि जीव अपने वास्तविक स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण मल(आणव, मायीय, कर्म मल) आवरण युक्त हुआ असमर्थता अनुभव करता है। अतएव यह मल (अज्ञान) ही बन्धन का कारण होता है। इसलिये इस द्विविध आवरण (बौद्ध-पुरुष) को अनावृत किये बिना स्वरूपानुभूति उसी प्रकार दुष्कर है, जैसे दर्पण के ऊपर से मैल हटाये बिना मुख स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। गुरु के उपदेश से और शास्त्रों के अभ्यास से जीव की बुद्धि का मल(अज्ञान) दूर जाता है। वह बुद्धि के स्तर पर समझ लेता है कि मैं असीम, परिपूर्ण सुद्ध संवित् हूँ। स्वभाव से ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हूँ। इस प्रकार के बौद्ध ज्ञान से बौद्ध अज्ञान दूर हो जाता है, परन्तु मूल (पौरुष) अज्ञान के निवृत्त हुये बिना अकेले बौद्ध ज्ञान से स्वरूपानुभूति नहीं होती। मानव का समस्त आचार-व्यवहार पौरुष अज्ञान से हो सकता है। अतएव पौरुष एवं बौद्ध दोनों प्रकार का ज्ञान यथार्थ स्वरूपानुभूति (शिवत्व प्राप्ति) के लिये अतीव आवश्यक होता है। जीव की आत्मा एवं बुद्धि दोनों निर्मल बन जानी चाहिये। अतः सच्छास्त्रों के सिद्धान्तों को बुद्धि से समझने द्वारा बुद्धि के स्तर की मल तथा गुरु के उपदेशपूर्वक शाम्भव आदि उपायों के अभ्यास से आत्मिक स्तर के आवरण को दूर करने से ही अपने वास्तविक, परमानन्द एवं शुद्ध आत्मदेव की स्वरूपानुभूति लाभान्वित हो सकती है। यह केवल समझने तक ही पर्याप्त नहीं है, अपितु क्रियात्मक रूप में अनुभूति आवश्यक है। जब कोई साधक क्रियात्मक रूप से अपने शिवभाव का साक्षात् अनुभव करता है, तभी उसे अपनी शिवता का पक्का विश्वास हो सकता है। गीतार्थसंग्रह और विंशतिशास्त्र टीका में इसी को विज्ञान कहा गया है।⁶

अब जिज्ञासा हो सकती है कि जो साधक शास्त्राभ्यास एवं गुरुसपर्या के राहित्य से बौद्ध एवं पौरुष ज्ञानलाभ नहीं कर सकता, क्या उसको यथार्थ आत्मस्वरूप की अनुभूति कभी नहीं हो सकती? जबकि जीव शिव का ही रूप माना जाता है, तो एसी दशा में सीमित रूप से ही भले क्यों न हो, आत्मप्रकाश तो रहता ही होगा। जब यह रहता है तो सीमित रूप में ही क्यों न हो, अज्ञान(मल) का नाश करता ही होगा? इस प्रकार भारतीय दर्शन का प्रतिवाद्य ही आत्मावलोकन एवं आत्मानुभूति है। सभी शास्त्र अपने ढंग से इसी के प्रतिपादन में सन्नद्ध हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- 1- कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवेश्छतं समाः। ईशा. उप. मन्त्र.2।
- 2- ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः भ.गी. 15/7।
- 3- दुःखत्रयाभिघातात्-सांख्य कारिका-
- 4- तैत्तरीय आरण्यक- 1/36-37
- 5- स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। ई. प्र. का 4/4।
- 6- विंशतिशास्त्रटीका पृष्ठ 2।